

मथुरा का प्राचीन जैन-शिल्प

□

उत्तर भारतीय प्राचीन जैन-कला केन्द्रों में 'मथुरा' का स्थान अग्रगण्य था। 'ईसा' पूर्व सातवीं शताब्दी से लेकर 'ईसा' की ११वीं शताब्दी तक 'मथुरा' नगरी जैन-धर्म और कला का प्रधान केन्द्र रही है। 'कंकाली-टीला' तथा अन्य निकटवर्ती स्थलों से प्राप्त सैकड़ों जैन-तीर्थंकर-मूर्तियाँ व मांगलिक चिन्हों से अंकित आयागपट्ट, देव-किन्नरों आदि से वन्दित स्तम्भ, स्तूप, अशोक, चम्पक, नागकेशर आदि वृक्षों के नीचे आकर्षक-मुद्राओं में खड़ी शालिमंजिकाओं से युक्त सुशोभित वेदिकाओं के स्तम्भ, कलापूर्ण शिलापट्ट, शिरदल आदि यह घोषित करते हैं कि 'मथुरा' के शिल्पियों की तुलना में अन्य स्थलों के शिल्पियों की क्षमता अत्यधिक न्यून थी। उपर्युक्त अवशेषों से यह भी स्पष्ट होता है कि तत्कालीन-जनता में जैन-धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा थी।

जैन-कला के प्राप्त अवशेष ई० पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ११ वीं शताब्दी तक के हैं। आगे की शोधों में उनसे भी प्राचीनतम प्रमाण मिलने की सम्भावना है। कंकाली-टीले से प्राप्त शिला-लेखों के आधार पर डॉ० 'बुल्हर' का मत है कि—ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्व कंकाली-टीलों में जैनों का एक बहुत बड़ा प्रासाद या देवालय था। (Epilnd. Vol II. P. 319) इसी के एक सौ वर्षों पश्चात् उसी स्थान पर एक दूसरे प्रासाद का निर्माण किया गया। 'शुंग-काल' में देव-स्थानों को प्रासाद कहा जाता था। जैसा कि 'बैस' नगर से प्राप्त शिलालेखों में है। (A.S.R. 1913-14, P. 190)।

'मथुरा' भारत के कतिपय उन प्राचीन नगरों में है, जो जैन-धार्मिक नगरों के तथ्यों को प्रागैतिहासिक काल तक ले जाते हैं। भारत ही नहीं, ईरान, यूनान और मध्य एशिया की संस्कृतियों से भी इस नगर का सम्बन्ध रहा है। यही कारण है कि यहाँ की 'वास्तु कला, मूर्ति-कला एवं लोक-जीवन' में इन सभी संस्कृतियों की अद्भुत झाकियाँ मिलती हैं।

'मथुरा' के कंकाली-टीले की खुदाई १८५३ ई० में जनरल सर 'अलेक्जेंडर' ने, सन् १८७१ ई० में जनरल 'कर्निघम' ने, सन् १८७५ ई० में मि० 'गौस' ने और सन् १८८७ ई० से लेकर सन् १८९६ ई० तक डा० 'फुहरर' और डा० 'बेनर्जी' ने करायी है। इन खुदाइयों में एक प्राचीन स्तूप, ११० शिलालेख,

और अनेक जैन-मूर्तियाँ (तीर्थंकरों की) तथा अन्य महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। ये प्राप्त ध्वंसावशेष १८८८ से १८९१ ई० तक लखनऊ व इलाहाबाद के पुरातत्त्व संग्रहालयों से भेजे गये हैं। जो शेष रह गये वह 'मथुरा' नगर में ही गोदामों में सुरक्षित हैं। यदि यह प्राप्त सामग्री (भग्नावशेष आदि) एक ही स्थान पर एकत्रित रहती तो अध्ययन करने वालों को विशेष सुविधा होती।

कुछ ही मास पूर्व "जैन-कला-प्रदर्शनी" उत्तर-प्रदेश राज्य-संग्रहालय द्वारा लखनऊ में आयोजित की गयी थी। जिसमें तीन कक्षों में ७८ जैन-कलात्मक वस्तुओं का प्रदर्शन था। प्रवेश द्वार पर 'जिन-मस्तक' प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० का स्थापित था। (जे० १८६)। दाहिनी ओर के कक्ष में जैन-उपासना के प्रतीक देवता, जैन-कथाएँ आदि मूर्ति-विज्ञान की सामग्री थी। दूसरे कक्ष में 'पाषाण-कला' के सुन्दर नमूने थे जो उत्तर-प्रदेश और मध्य-भारत से प्राप्त हुए हैं। तीसरे कक्ष में 'धातु-मूर्तियाँ, चित्र, तथा हस्तलिखित ग्रन्थ' रखे गये थे।

जैन-कला की यह अनुपम सामग्री 'ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक' की थी। इनमें 'जैन-तीर्थंकर के शीर्ष, जैन स्तूप के चित्र, वेदिका-स्तम्भ, तीर्थंकर युक्त आयागपट्ट शिला-फलक व शिलापट्ट, नेगमेषिन, ध्यानमुद्रा की तीर्थंकर-मूर्तियाँ, सर्वतोभद्र-प्रतिमाएँ, धर्म-चक्र आदि अध्ययन की अनेक सामग्रियाँ थीं। ऐसी प्रदर्शनियों का अपना औचित्य है। सर्व साधारण में ये कौतूहल पैदा करती हैं, और उनके अवलोकन से उनमें रुचि पैदा होती है, तथा धर्म के प्रति श्रद्धा भी उत्पन्न होती है। पुरातत्त्व-संग्रहालयों में विशेष रुचि के लोग ही जाते हैं।

'जैन-कला' पाषाण, धातु, ताड़पत्र, कागज आदि विविध माध्यमों से विकसित हुई है। इसका प्रारम्भ 'सिन्धु-सभ्यता' तक पहुँच चुका है। मौर्य-काल से निर्विवाद रूप में क्रम-बद्ध सिलसिला तो उपलब्ध है ही। "जैन-कलाकारों" ने आयागपट्ट, चैत्य-स्तम्भ, चैत्यवृक्ष, स्तूप, मांगलिक-चिन्ह आदि प्रतीकों से प्रारम्भ कर खड़ी व बैठी तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ, सर्वतोभद्रिका या चौमुखी-मूर्तियाँ, सरस्वती, अम्बिका, चक्रेश्वरी, नेगमेष, बलभद्र, क्षेत्रपाल आदि देवताओं की सुन्दर मूर्तियाँ गढ़ी हैं। 'जैन कला' का यह विशाल-क्षेत्र 'पाषाण-कला, धातुकला और वास्तुकला' में अनुपम निधि के रूप में प्राप्त है और नवीन-शोधों द्वारा प्राप्त होता जा रहा है।

'पाषाण-कला' की अनुपम-निधि बिहार के 'लोहानीपुर' नामक स्थान से प्राप्त तीर्थंकर प्रतिमा है। सम्भवतः वह पाषाण-कला की सर्व प्रथम कृति है। यह जैन-प्रतिमा है। ईस्वी सन् के कई शताब्दी पूर्व से जो यह परम्परा प्रारम्भ हुई, वर्तमान तक चली आ रही है। कई शताब्दियों पूर्व (सम्भवतः ६-७) उत्तर प्रदेश का 'मथुरा' नगर मूर्तिकला का विशिष्ट केन्द्र बन चुका था। उन दिनों वहाँ जैनों का एक विशाल स्तूप 'बौद्ध-स्तूप' के नाम से प्रख्यात था। इस स्तूप में अनेक छोटी बड़ी जैन-तीर्थंकर-प्रतिमाओं के अतिरिक्त अनेक जैन देव-देवियों की मूर्तियाँ भी स्थापित थीं। ये प्रतिमाएँ कुषाण-काल की मानी गयी हैं। अनेक तो पूर्व की भी लगती हैं।

'स्तूप से प्राप्त प्रतिमाएँ अचेल (नग्न) हैं। कायोत्सर्ग (खड़ी) अथवा पद्मासन में है। जैन-प्रतिमाओं के यही दो आसन होते हैं। छाती में श्री वत्स चिन्ह है। मस्तक के झलने वाले केश केवल तीर्थंकर

आयार्थप्रवर्तन अमिर्कन्दे आयार्थप्रवर्तन अमिर्कन्दे
श्रीआनन्दरौ अन्धदुःश्रीआनन्दरौ अन्धदुः



‘श्री आदिनाथ’ (ऋषभनाथ) की प्रतिमाओं पर ही अंकित मिलते हैं। कुषाण-काल तक की प्रतिमाओं में तीर्थकरों का लांछन चिन्ह नहीं होता था। केवल भगवान ‘ऋषभदेव’ आदिनाथ का बैल (वृषभ), ‘श्री पद्मप्रभु का ‘कमल’, ‘श्री पार्श्वनाथ’ का ‘सर्प’ और ‘श्री महावीर’ का ‘सिंह’ लांछन रूप में प्रयोग होता था। सर्वतोभद्रिका (चौमुखी) प्रतिमाओं में आदि तीर्थकर ‘श्री ऋषभनाथ, बाइसवें तीर्थकर श्री नेमिनाथ, (श्रीकृष्ण के चचेरे भाई), २३ वें श्री पार्श्वनाथ और २४ वें श्री महावीर” का अंकन होता था।

तीर्थकर-मूर्तियों के साथ कुषाण-काल तक शासन देवताओं का अंकन नहीं होता था। पश्चात् की कला में उनका निर्माण हुआ है। प्रारम्भिक-मूर्तियों में चरण-चौकी पर ‘धर्म-चक्र’ के पूजन का दृश्य तथा अभिलेख दिखलाई पड़ता है, जिसमें “मूर्ति की प्रतिष्ठा, तिथि, दाता का नाम तथा गुरु परम्परा” आदि का उल्लेख रहता है। मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते तीर्थकर मूर्तियों में शासन-देवताओं के अतिरिक्त अन्य कई अभिप्रायों का अंकन होने लगा। जैसे तीन छत्र, छत्रों के ऊपर ढोलक बजाता देव, हाथियों द्वारा अभिषेक इत्यादि। जिस तीर्थकर प्रतिमा की पृष्ठ-पट्टिका पर अन्य तेइस तीर्थकरों का अंकन रहता है, उसे सम्पूर्ण-मूर्ति’ या चतुर्विंशतिका अथवा चौबीसी कहते हैं। जैन प्रतिमाएँ उत्तर-प्रदेश, तथा पश्चिमी भारत में विपुलता से प्राप्त हैं। दक्षिण-भारत में भी उनके दर्शन होते हैं। पूर्वी-भारत में उनकी संख्या अधिक नहीं है।

५७ फुट ऊँची पाषाण गोम्मटेश्वर-मूर्ति :—

आदि तीर्थकर ऋषभदेव की दो पत्नियाँ थीं। प्रथम रानी से ‘भरत और ६६ पुत्र तथा एक ब्राह्मी नाम की पुत्री’ थी। दूसरी रानी के गर्भ से एक पुत्र वाहुबलि और पुत्री सुनन्दा’ थी। ‘ऋषभदेव’ ने प्रव्रज्याग्रहण करते समय ज्येष्ठ पुत्र ‘भरत’ को उत्तरापथ का और वाहुबलि को दक्षिणापथ का शासन सौंपा था। ‘भरत’ की राजधानी अयोध्या थी और वाहुबलि की पोदनपुर।

महाराजा ‘भरत’ महत्वाकांक्षी थे, उन्होंने चक्रवर्तित्व के लिए दिग्विजय की दुंदुभि बजायी। दसों दिशाओं में अपनी सत्ता स्थापित कर जब भरत अपनी राजधानी अयोध्या वापस लौटे तो ‘चक्र-रत्न’ नगर के प्रवेश द्वार पर अटक गया। जैन-पुराणों के अनुसार एक भी शत्रु के रहते ‘चक्र-रत्न’ राजधानी में प्रवेश नहीं करता है। मंत्रणा से ज्ञात हुआ कि छोटे ‘वाहुबलि’ ने सम्राट भरत की आधीनता स्वीकार नहीं की है। वह अपने को स्वतन्त्र-शासक घोषित करते हैं।

ऐसी स्थिति में युद्ध अनिवार्य था। दोनों बन्धुओं की सेनाएँ युद्ध-भूमि में उतर आयीं। मन्त्रियों ने निर्णय दिया, “इस बन्धु-युद्ध में सेनाएँ तटस्थ रहेंगी। दोनों भाई युद्ध कर अपना निर्णय कर लें। विजयी चक्रवर्ती घोषित होगा। “नेत्र-युद्ध, जल-युद्ध और मल्ल-युद्ध द्वारा जय-पराजय का निर्णय होना था। तीनों युद्धों में ‘वाहुबलि’ विजयी रहे।

विजयी ‘वाहुबलि’ को आघात तब लगा जब भरत ने उन पर ‘चक्र’ चला दिया। इससे वाहुबलि को अन्तर्दर्शन हुआ, और उन्होंने चक्र को रोकने के लिये ऊपर उठाये हाथों से केश-लुं चन कर ‘दीक्षा’ ग्रहण कर ली। राज्य-सम्पदा भरत को अर्पित कर दी।

महाराजा ‘भरत’ चक्रवर्ती बने। उनके नाम पर देश का नाम भारत पड़ा। उनकी बहन ब्राह्मी

को जो लिपि श्री ऋषभदेव जी ने पढ़ाई थी, वह ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई। चक्रवर्ती भरत ने बाहुबलि की तपस्या-भूमि पर उनकी अनुकृति का निर्माण कराया था, किन्तु काल के थपेड़ों से वह नष्ट हो गयी।

उसी भूमि पर गंग नरेश 'राजमल्ल' के प्रधान सेनापति वीरवर श्री 'चामुण्डराय' ने कल्कि संवत् ६०० में विभव संवत्पर चैत्र शुक्ल ५, वार रवि, कुम्भ-लग्न, सौभाग्य-युग, मृगशिरा-नक्षत्र में मूर्ति की स्थापना कर मस्तकाभिषेक कराया। गणितज्ञ-विद्वानों के अनुसार वह २३ मार्च १०२८ ई० का दिन था। 'मस्तकाभिषेक' की परम्परा में प्रत्येक १२ वर्षों पर वहाँ मेला होता है।

'श्रमण-बेल-गोला' आज केवल जैनियों का ही तीर्थ नहीं रहा। बल्कि विश्व के पर्यटकों व सैलानियों के सभी आकर्षण का वह स्थान है। नित्य प्रति सैकड़ों यात्री उस पहाड़ी की चोटी पर भगवान गोम्मटेश्वर की उस आश्चर्यमयी-प्रतिमा के दर्शन कर कृत्य-कृत्य होते हैं।

विन्ध्यगिरि-पर्वत के दक्षिण प्रसार में दोड्डवेट्ट (इन्द्रगिरि) तथा चिक्कवेट (चन्द्रगिरि) पहाड़ियों की तलहटी में कल्याणी-सरोवर के निकट की बस्ती का नाम 'श्रमण-बेल-गुल' है। यह शब्द 'कन्नड़ भाषा' का है, और इसका भावार्थ है—'जैन-साधुओं का धवल-सरोवर'। इस भूमि पर अतीतातीत-काल से जैन-श्रमणों ने तपस्या कर समाधि-मरण द्वारा मुक्ति प्राप्त की है। इसे 'दक्षिण काशी, जैन वदरी, देवलपुर और गोम्मटपुर' भी कहा जाता है।

प्राप्त शिलालेखों के आधार पर यह ईसा से ३०० वर्षों के पूर्व का इतिहास प्रगट होता है। मैसूर विश्वविद्यालय के शोध विभाग में प्रदेश के ५०० शिलालेखों का संग्रह है। जिनका उल्लेख एपिग्राफिया कर्नाटिका में पूर्ण विवरण सहित प्रकाशित है। शिलालेख सम्राट चन्द्रगुप्त से सम्बद्ध हैं। इनमें जैन-धर्म के अनुयायियों की गुण-गाथा, दक्षिण-भारत के जैनाचार्यों की परम्परा, जैन राजवंशों का परिचय आदि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। संसार की बेजोड़ ५७ फुट ऊँची प्रतिमा पर्वत शिखर पर बिना आधार के स्थित है। जो आश्चर्यप्रद कला-निर्माण का डंका हजारों वर्षों से गुन्जित कर रही है। बाहुबलि मुन्दर होने के कारण 'मन्मथ' की संज्ञा से विभूषित थे। कन्नड़-भाषा में कामदेव को गोम्मट कहा जाता है। अतएव बाहुबलि की मूर्ति का नाम भी गोम्मटेश्वर ही प्रचलित हो गया।

धातु-प्रतिमायें—अब तक की प्राप्त धातु-प्रतिमाओं में ईसा पूर्व एक शताब्दी के आस-पास की निर्मित तेइसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्राचीनतम मानी गयी है। यह बिहार राज्य के 'चौसा' नामक ग्राम से प्राप्त हुई है। कुछ प्रतिमाएँ कुषाण-काल से सम्बन्धित हैं। शेष गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल की हैं। पश्चिम तथा दक्षिण भारत में आकोटा, बसन्तगढ़, खम्भायत, बापटला, श्रवणबेलगोला, पड्डकोट्टई आदि विविध स्थानों में जैन-धर्म की सहस्रों मूर्तियाँ बिखरी हैं। ये प्रतिमाएँ ठोस और पौली दोनों प्रकारों की हैं। मूर्ति-निर्माण में अधिकतर पीतल और ताम्बे का ही प्रयोग किया जाता था। सोने, चाँदी व विभिन्न रत्नों की भी मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। धातु प्रतिमाओं में अभिलेखों का स्थान अधिकतर मूर्ति के पृष्ठ भाग में ही होता था। मूर्तियों की छाती पर श्रीवत्स, चौकी पर लाच्छन, शासन-देवताओं तथा अन्य महत्त्वपूर्ण अभिप्रायों का अंकन होता था।

आचार्य प्रवचन अभिरुद्र आचार्य प्रवचन अभिरुद्र
श्रीआनन्दरौ अन्धरुद्र श्रीआनन्दरौ अन्धरुद्र



वास्तु-कला—‘जैन वास्तु-कला’ के प्राचीनतम नमूने मौर्य सम्राट अशोक और दशरथ के समय में निर्मित, बिहार राज्य के राजगिरि की सोन भण्डार, नागार्जुनी और बराबर पहाड़ियों की गुफाएँ, तथा उड़ीसा की खण्डगिरि और उदयगिरि गुफाएँ शुंग-काल की सम्पदा हैं। ‘मथुरा’ का देवनिर्मित बौद्ध-स्तूप या ‘बौद्धस्तूप’ भी कुषाण-काल का अपने पूरे वैभव का प्रमाण है। गुप्त-कालीन नमूने बहुत अल्प मात्रा में उपलब्ध हैं। परन्तु मध्यकालीन अनेक मन्दिर जैसे राजस्थान में ओसियां जी और आबू के, उत्तर-प्रदेश में खुजुराहो, सोनागिरि आदि अपनी महत्ता का गौरव आज भी संजोये अपनी कहानी कहने में सक्षम हैं।

चित्रकला—जैन-चित्र-कला का प्रारम्भ भी ई० पूर्व पहली शती से होता है। इस समय के कुछ चित्र उड़ीसा के उदयगिरि तथा खण्डगिरि की गुफाओं में हैं। तामिलनाडु की सित्तन्नवासल गुफाओं की चित्रकारी उत्तर-गुप्तकाल (६००-६२५ ई०) की है। एलोरा के कैलास मन्दिर की दीवारों पर ८वीं से १३वीं शती के कुछ चित्र हैं। इसी प्रकार के चित्र तेरापुर की गुफाओं में भी हैं।

उत्तर-मध्यकाल में लघु चित्रकला विशेष रूप से पश्चिम-भारत में पतली। ताड़ पत्र पर सन् ११०० में लिखी निशीथ-चूर्णी पोथी के चित्र प्राचीनतम हैं। इसके बाद ताड़पत्र तथा कागज की ही पोथियों में जैनचित्र मिलते हैं। महापुराण, कल्पसूत्र, कालकाचार्य-कथा, महावीर-चरित्र, उत्तराध्ययन, स्थानांग सूत्र, शालिभद्र चउपई आदि अनेक चित्रित ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

ग्रन्थों पर लगी लकड़ी की तख्तियाँ भी सुन्दर चित्रों से अलंकृत हैं। कपड़े पर चित्रों का एक अच्छा उदाहरण सन् १४३३ ई० की जैन-पंच-तीर्थी का है। अनेक विज्ञप्ति-पत्र जो गृहस्थों द्वारा जैनाचार्यों को वर्षावास के निमन्त्रण के लिए भेजे जाते थे, चित्रों से अलंकृत हैं। श्री मद्भागवत जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं जैन-विषयों का चित्रण प्राप्त होता है।

मध्य-कालीन जैन चित्रों में लाल रंग की पार्श्वभूमि, मुख्यतः सफेद, काले, नीले, हरे, और मजीठे रंग का प्रयोग वास्तु-कला का सीमित चित्रण विशेष दर्शनीय है। मुगल-कला के प्रभाव में इनमें सोने का प्रयोग भी बहुलता से होने लगा था।

मूर्तियों का प्रारम्भिक निर्माण-काल :—

जैन-तीर्थंकरों की उपलब्ध मूर्तियों से प्रमाणित होता है कि—ईसा की दो शताब्दी पूर्व से ही इनका निर्माण प्रारम्भ हो गया था। खारवेल के हाथी-गुम्फा के लेख (१६५ ई० के लगभग) में देवतायतन संस्कार तथा ‘जिन-सन्निवेश’ का वर्णन है। खारवेल ने कर्लिंग-देश के अधिष्ठाता ‘जिन’ की प्राचीन प्रतिमा का सन्निवेश कर स्थापना कराया था। इसी लेख में ‘चक्क’ का भी वर्णन है। यह ‘चक्क’ बौद्धों के समान ही ‘धम्म-चक्क’ धर्म का एक प्रमुख चिन्ह था। कंकाली-टीले से प्राप्त बहुत जिन-प्रतिमाओं के बारे में यह निर्णायक रूप में अभी तक नहीं कहा गया कि उनमें कितनी कुषाण-काल के पूर्व की हैं। किन्तु प्रासादों के तोरण और उपान्त भागों के टूटे हुए खण्ड अवश्य ही शुंगकाल के हैं।

‘मथुरा’ के प्राचीन शिल्पियों ने जैन-तीर्थंकरों की जिन मूर्तियों का जैसा प्रारम्भिक रूप दिया: वही परम्परा निरन्तर विकसित होती रही। जैन-प्रतिमाएँ मुख्य रूप में तीन प्रकार की हैं—१. खड्गासन, २. पद्मासन, और ३. सर्वतोभद्र (चौमुखी)। प्राचीन तीर्थंकरों की मूर्तियों पर उष्णीष नहीं होते थे। अनेकों

की छाती पर 'श्रीवत्स' चिन्ह है, अनेकों पर नहीं भी है। किन्तु लांछनों का सर्वथा अभाव है। लांछन-चिन्ह का प्रयोग सातवीं शताब्दि से प्रारम्भ हुआ लगता है। चौकी पर अंकित लेखों से ही तीर्थकरों का परिचय मिलता था। आदि तीर्थकर श्री ऋषभदेव हैं, जिन्हें जैन-धर्म के प्रवर्तक होने के नाते श्री 'आदिनाथ' भी कहा जाता है, के मस्तक की लट्टे कन्धों तक कुछ प्रतिमाओं में अंकित हैं। सातवें तीर्थकर श्री सुपार्श्वनाथ, तथा तेइसवें श्री पार्श्वनाथ की मूर्तियों में सर्प-फण का टोप निर्मित है।

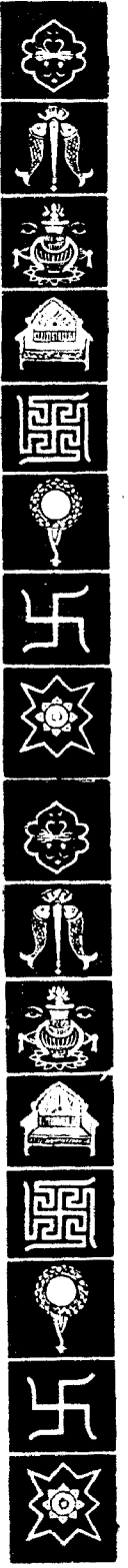
खड्गासन-मूर्तियाँ 'कायोत्सर्ग' मुद्रा की होती हैं। इनमें 'दिग्म्बरत्व' प्रत्यक्ष रहता है। इनके हाथ लता-हस्त मुद्रा में होते हैं। पद्मासन-मूर्तियों के दोनों हाथ एक के मध्य एक दूसरी हथेली पर हथेली रखे होते हैं, इनकी उपमा प्रफुल्ल कमल से दी जाती है। मस्तक, ग्रीवा, नेत्र, और ऊर्ध्वकाय भाग ध्यान-मुद्रा का होता है। सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ खड्गासन व पद्मासन दोनों रूपों में होती हैं। ये चारों दिशाओं में चार होती हैं, किन्तु एक पाषाण-खण्ड या धातु में ढली होती हैं। इनमें प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव, सातवें तीर्थकर श्री सुपार्श्वनाथ, तेइसवें तीर्थकर श्री पार्श्वनाथ और अन्तिम चौबीसवें तीर्थकर श्री महावीर का अंकन रहता है। इनकी चौकी पर पार्श्व में सिंह और धर्म-चक्र-स्तूप की पूजा का अंकन रहता है। भक्त गृहस्थ परिवार सहित पूजा करते चित्रित रहता है।

'कला' की दृष्टि से जैन-तीर्थकर-प्रतिमाओं में समाधिजन्य स्थिरता और ऊर्ध्वता पायी जाती है। बाहरी ओर उनका आकर्षण नहीं होता। सौम्य ध्यानस्थ शान्तमुद्रा की प्रतिमाएँ मानव को संसार की 'अनित्यता' का दर्शन कराती हैं। किन्तु इन विरागी-मूर्तियों के निर्माता 'शिल्पी' जो प्रतिमाओं के अंकन में अपनी इतनी समाधान-प्रवृत्ति का परिचय देते हैं, वही जब तोरण और वेदिका-स्तम्भों के निर्माण में अपनी छैनी और हथौड़ी का प्रयोग कर जीवन-सम्बन्धी तथ्यों को दृश्यों में अंकित करने लगते हैं, तब वे अपनी गहन चिन्ताओं का, ऊँचे कलात्मक-सौष्ठव का उनमें प्राण डाल देते हैं। उदाहरण रूप आयागपट्टों पर अंकित शिल्प-माधुर्य मन को वशीभूत किये बिना नहीं रहता। 'मथुरा' के कलाकारों की श्रेष्ठ कुशलता के प्रमाणिक तथ्य हैं।

मथुरा के शिल्प का प्रसार, मूर्ति-शिल्प जैनों की देन है :—

'मथुरा' का वास्तु-शिल्प-वैभव अपनी कला की श्रेष्ठता के कारण दूर-दूर तक फैला है। यहाँ के शिल्पियों की कर्मशालाएँ रात्रि-दिवस 'परमख' जैसी विशालकाय मूर्तियों के निर्माण में व्यस्त रहने लगी थीं। ये कदावर-मूर्तियाँ अपने सभी अंगों से पूर्ण सन्तुलित शुंग-युग में प्रचुरता से निर्माण होने लगी थीं। इसी परम्परा में कुषाण-युग में बोधिसत्त्वों, बुद्धों और अन्य यक्ष-यक्षियों, देवताओं की महाकाय मूर्तियों का निर्माण होता रहा। साँची, सारनाथ, कौशाम्बी, श्रावस्ती, पंजाब, राजस्थान का बैराट प्रदेश, बंगाल, अहिच्छत्रा एवं कोसम आदि स्थलों में मथुरा के लाल चकत्तेदार-पत्थरों की मूर्तियों उपलब्ध होती हैं। इन मूर्तियों के निर्माण के लिए सुन्दर मंजीठिया रंग का पत्थर रूपबास और सीकरी की खदानों से लाया जाता था।

'मथुरा' शिल्प-वैभव का स्वर्ण-युग कुषाण-सम्राट कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के राज्यकाल तक था। इस युग में कला परम उत्कृष्टता को प्राप्त हुई। यहाँ शिल्पियों ने भरहुत और साँची के कला



आचार्य प्रवर्तक अभिनन्दन आचार्य प्रवर्तक अभिनन्दन
श्री आनन्दरक्ष अन्धकार श्री आनन्दरक्ष अन्धकार

के आचार्यों की बारीकी वाली चुटकियों को केवल अपनाया ही नहीं, बल्कि उसे विकसित भी किया। कला नये रूप में, नये विषय और नयी शैली से फैली। सौन्दर्य को उत्कीर्ण करने में 'मथुरा के शिल्पियों' ने अद्भुत गौरव प्राप्त किया था। बाह्य-रूप के निर्माण के साथ-साथ आन्तरिक-भावों की अभिव्यक्ति के समन्वय में इनकी कुशलता चरम-सीमा पर पहुँच चुकी थी। इसकी तुलना ही सम्भव नहीं है। इन हाथों में कला, 'ललित-कला' बनी। कला का माप-दण्ड छोटा पड़ गया।

'वृक्ष, वनस्पति, कमलों के फुल्ले और लतर, पशु-पक्षी' आदि के रूप में जो शोभा के लिए प्राचीन-काल से प्रयुक्त होते चले आ रहे थे उसे उन्होंने अपनाते हुए उनमें नवीन विषयों का समावेश कर उनमें जीवन प्रतिष्ठापित कर दिया। मानवों की प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए प्रकृति का चित्रण और उद्यानक्रीड़ाएँ, एवं जल-क्रीड़ाओं के दृश्यों को स्वच्छन्दतापूर्वक वेदिका-स्तम्भों में उत्कीर्ण कर एक उदाहरण उपस्थित किया है। 'मथुरा' जैसे ललित वेदिका-स्तम्भ अन्यत्र दुर्लभ हैं। शोभनार्थ अलंकारों की संख्या में वृद्धि हुई, उनमें अनेक पूर्व समागत थे, अनेकों की नूतन कल्पनाएँ भी हुईं। सब से प्राचीन जैन-प्रतिमाएँ, स्तूप, आदि 'मथुरा' से ही प्राप्त हैं।

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि—'मूर्ति-शिल्प' बौद्धों के पूर्व अतिप्राचीन-काल से जैनों की धरोहर रहा है। कुषाण-युग से पूर्व की कोई बुद्ध प्रतिमा अभी तक नहीं प्राप्त हुई है। बोध-गया, साँची और भरहुत की विपुलकला-सामग्री में कहीं भी तथागत की (बुद्ध की) मूर्ति का चित्रण नहीं मिलता, बुद्धदेव के प्रतीकों हाथी, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र और स्तूप आदि चिन्हों द्वारा उनका मान होता रहा। ये चारों प्रतीक क्रमशः बुद्ध के जीवन की घटनाओं से ही सम्बन्धित रहे हैं। 'हाथी' जन्म से, 'बोधिवृक्ष' सम्बोधि से, 'धर्मचक्र' प्रथम उपदेश से, और 'स्तूप' परिनिर्वाण का सूचक माना गया है। इन प्रतीकों का सम्बन्ध लुम्बिनी, बोधगया, सारनाथ और कुशीनारा से माना जाता है।

भारतवर्ष में निर्मित विशालकाय-प्रतिमाओं में केवल 'दस यक्ष' प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें अधिक संख्या में मथुरा से ही प्राप्त हैं। प्रथम प्रतिमा जो 'परखम' यक्ष की है, वह 'मथुरा' से ही प्राप्त हुई है। मथुरा के ही 'बरोदा' नाम के स्थान से दूसरी भी विशालकाय यक्ष प्रतिमा मिली है। तीसरी भी 'मथुरा' के ही एक गाँव में पूजी जाने वाली 'मनसादेवी' यक्षिणी की है। चौथी 'मथुरा' के ही 'अचिर' गाँव से प्राप्त हुई है।

कंकाली-टीले के दक्षिण पूर्व भाग में डाँ० वर्जेंस को खुदाई में जो एक 'सरस्वती' की प्रतिमा प्राप्त हुई थी, उसे लोहे का काम करने वाले एक लोहिका-कारक गोप ने स्थापित कराया था। इसी स्थान पर धनहस्ति की धर्मपत्नी और गुहदत्त की पुत्री ने 'धर्मार्थी' नामक श्रमण के उपदेश से एक शिलापट्ट दान किया था, जिस पर स्तूप की पूजा का सुन्दर दृश्य अंकित है। जयपाल, देवदास, नागदत्त और नागदत्ता की जननी 'श्राविकादत्ता' ने आर्य संघ सिंहे की प्रेरणा से 'वर्धमान'-प्रतिमा को ईस्वी सन् ६८ में दान किया था। स्वामी महाक्षत्रप 'शोडास' के राज्य संवत्सर ४२ में श्रमण-श्राविका अमोहिनी ने अयंवती की प्रतिमा का दान किया था। तपस्विनी विजयश्री ने जो राज्यवसु की पत्नी, देविल की माता और विष्णु-भव की दादी थीं, एक मास का उपवास करने के पश्चात् संवत् ५० (१२८ ई०) में वर्धमान-प्रतिमा की

स्थापना की थी। इस प्रकार से जैन-संघ के इतिहास के अन्तर्गत अनेक श्रमण-श्राविकाओं के पुण्य कार्यों का विवरण 'मथुरा' के अभिलेखों में प्राप्त है। उपरोक्त 'सरस्वती' की प्रतिमा की स्थापना संवत् ५४ में हुई है। मूर्ति के बायें हाथ में पुस्तक है। अब तक की प्राप्त 'सरस्वती-प्रतिमाओं' में यह सबसे प्राचीन है। जैन-धर्म में अति प्राचीन-काल से ही 'सरस्वती और लक्ष्मी' दोनों देवियों की मान्यता बौद्धिक ही नहीं, आध्यात्मिक रूप में भी रही है।

एक अन्य उल्लेखनीय प्रतिमा 'देवी आर्यवती' की है। जो क्षत्रय "शोडास" के राज्य-काल में संवत् ४२ में स्थापित की गयी थी। क्षत्र और चँवर लिए दो पार्श्वचर स्त्रियाँ आर्यवती की सेवा कर रही हैं। इससे उसका राजपद सूचित होता है। सम्भवतः 'आर्यवती देवी' का यह अंकन महावीर की माता 'त्रिशला देवी' का हो।

'अर्हन्त-नन्द्यावर्त' अर्थात् अठारहवें तीर्थंकर भगवान श्री 'अरहनाथ' की चौकी पर खुदे एक लेख में कोट्टियगण वज्जी शाखा के वाचक आर्य 'वृद्धहस्ती' की प्रेरणा से एक श्राविका ने देव निर्मित स्तूप में अर्हत की प्रतिमा स्थापित की थी। (एपिग्राफिया इण्डिका भाग २, ले० २०१)। यह लेख संवत् ८६ अर्थात् कुषाण सम्राट वासुदेव के राज्यकाल ई० सन् १६७ का है।

कुषाण-कालीन-मूर्तियों पर अनेक अभिलेख हैं। इन लेखों की लिपि 'ब्राह्मी' है, और भाषा संस्कृत-प्राकृत का मिश्रण है। इनके द्वारा तत्कालीन जैन-धर्म सम्बन्धी अत्यधिक जानकारी प्राप्त होती है। कंकाली-टीले से प्राप्त मूर्तियाँ जो 'मथुरा और लखनऊ' आदि संग्रहालयों में स्थित हैं, कुषाण संवत् ५ से ६५ तक की हैं। बाद में इन मूर्तियों का स्थापना क्रम ग्यारहवीं शताब्दी तक बराबर मिलता है। कला की दृष्टि से गुप्त-काल की पचासन-मूर्तियाँ श्रेष्ठ हैं।

अनेक वेदिका-स्तम्भों पर सूचीदलों की सुन्दर सजावट, आमूषण संभारों से उन्नतांगी रमणियों के सुखमय जीवन का अमर वाचन है। अशोक, बकुल, आम्र तथा चम्पक के उद्यानों में पुष्प मंजिका-क्रीडाओं में आसक्त, कन्दुक, खड़गादि नृत्यों में प्रवीणता की बोधक, स्नान और प्रसाधन में संलग्न पौरांगनाओं को देखकर जिस सजीवता का आभास होता है, वह अवरणीय है। भक्ति-भाव पूरित पूजन के लिए पुष्पमालाओं का उपहार लाने वाले उपासक-वृन्दों की शोभा विलक्षण है। सुपर्ण और किन्नर सहस्र देव भी पूजा के इन श्रद्धामय कृत्यों में बराबर भाग लेते हुए अंकित हैं। ये सभी दृश्य मात्र भाव-गम्य हैं, इनका वर्णन सम्भव है ही नहीं।

"आयागपट्ट"—मथुरा "जैन आयागपट्ट" विशेष रूप से गौरव-शाली हैं। इसमें प्रायः बीच में तीर्थंकर-मूर्ति तथा चारों ओर विविध प्रकार के मनोहर अलंकरण मिलते हैं। स्वस्तिक, नंदावर्त, वर्धमानवय, श्रीवत्स, भद्रासन, दर्पण, कलश, मीनयुगल, और 'अष्ट-मंगल-द्रव्यों', का आयागपट्टों पर सुन्दर आलेखन है। एक में तो आठ दिक्कुमारियाँ एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए आकर्षक-मुद्राओं में नृत्य में संलग्न हैं। मण्डल का चक्रवाल अभिनय का उल्लेख "रायपसेनिय-मुत्त" में आया है। एक दूसरे आयाग-पट्ट पर तोरण-द्वार तथा वेदिका की अत्यन्त कलात्मक सर्जना है। ये सभी वस्तुएँ कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इनमें अधिकांश अभिलिखित हैं, जिन पर ब्राह्मी लिपि में लगभग ई० सन् पूर्व १०० से लेकर ई०

आयागपट्ट अभिलेख आयागपट्ट अभिलेख
श्रीआनन्दरत्न अन्धपुत्र श्रीआनन्दरत्न अन्धपुत्र



२०२ इतिहास और संस्कृति

प्रथम शताब्दी के मध्य तक के हैं। शुंग-काल से लेकर गुप्त-काल तक की ऐसी मूल्यवान जैन-सामग्री कदाचित ही अन्यत्र मिले। इसके द्वारा विभिन्न युगों की वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद तथा सामाजिक-जीवन के अन्तरंग भावों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

स्तूप के प्रांगण में इस प्रकार के पूजा-शिलापट्ट या आयागपट्ट ऊँचे स्थलों पर स्थापित किये जाते थे। दर्शक उनकी पूजा अर्चना करते थे। 'मथुरा की जैन-शिल्प-कला' में आयागपट्टों की महत्वपूर्ण भूमिका है। अनेक उच्च-कला के जैन-आयागपट्ट लखनऊ संग्रहालय में संग्रहीत हैं। (जे० नं० २४६)। यह सिंहनादिक द्वारा स्थापित हैं। इनके ऊपर नीचे अष्ट-मांगलिक अंकित हैं। दोनों पाश्र्वों में एक ओर चक्रांकित-ध्वज और दूसरी ओर गजांकित स्तम्भ है, बीच में चार त्रिरत्नों के मध्य में तीर्थकर प्रतिमा पद्मासन में विराजमान है।

दूसरे आयागपट्ट (जे० नं० २५०) में मध्य में एक बड़ा स्वस्तिक अंकित है, उसके गर्भ में एक छोटी तीर्थकर मूर्ति है। स्वस्तिक के आवेष्टन के रूप में सोलह देवकुमारियों से अलंकृत एक मण्डल है, जिसके चार कोनों पर चार मनोहर मूर्तियाँ हैं। नीचे की ओर अष्ट मांगलिक-चिन्हों की बेल हैं। इस प्रकार के पूजा-पट्ट को प्राचीन भाषा में स्वस्तिक-पट्ट कहा जाता था।

तीसरे 'आयागपट्ट' (जे० २४८) के मध्य में षोडस-धर्म-चक्र की आकृति अंकित है। उसके चारों ओर तीन-मंडल हैं। प्रथम में १६ नन्दिपद, दूसरों में 'अष्ट-दिक्कुमारियों', और तीसरे में कुण्डलित पुष्पकर स्रज कमलों की माला है, और चार कोनों पर चार मनोहर मूर्तियाँ हैं। इस पूजा-पट्ट को प्राचीन-काल में चक्र-पट्ट कहा जाता था।

आयागपट्ट (जे० नं० २५५) की स्थापना फाल्गुयश नर्तक की पत्नी 'शिवयशा' ने अर्हत-पूजा के लिए की थी। इस पर प्राचीन मथुरा जैन-स्तूप की आकृति अंकित है, जिसके एक ओर तो तोरण, वेदिका और सोपान भी दिया है। मथुरा 'संग्रहालय में भी एक दूसरा भी आयागपट्ट (क्यूर) है जिसकी स्थापना गणिका 'लावण्य शौभिका' की पुत्री श्रमण-श्राविका वसु ने अर्हतों के मन्दिर में अर्हत-पूजा के लिये की है। इस पर भी स्तूप, तोरण, वेदिका और सोपान अंकित हैं।

"वेदिकाएँ"—"वेदिका-निर्माण" वास्तु-कला विन्यास का उत्कृष्ट कर्म था। उसमें "उर्ध्वस्तम्भ, आड़ी सूचियों, उष्णीष, आलम्बश, तोरण द्वारों के मुख्य पट्ट", पुष्पाधनी या पुष्पग्रहणी, सोपान, उतार-चढ़ाव की छोटी-छोटी पाश्र्वगत वेदिकाएँ और ध्वज, स्तम्भ आदि नाना प्रकार की शिल्प-सामग्रियाँ सम्मिलित कर उन्हें उत्कृष्टता प्रदान की जाती थी। इनमें स्तूपों के रूपों का भी सम्पादन मनोरम ढंग से किया जाता रहा। वेदिका-स्तम्भों पर निर्मित शालभंजिका मूर्तियाँ वैसी ही मुद्राओं में हैं, जैसी बुद्ध-स्तूपों में। वस्तुतः स्तूप के चतुर्दिक-वेदिका स्तम्भों का जैसा सुन्दर-विधान 'मथुरा-कला' में उद्भूत है, वह सराहनीय ही नहीं अनुलनीय है।

'शुंग-काल' में तीन विशेष परिवर्तन हुए—प्रथम में मूल स्तूप पर शिलापट्टों का आच्छादन चढ़ाया गया। दूसरे में उसके चारों ओर चार तोरण द्वारों से संयुक्त एक भव्य-वेदिका का निर्माण हुआ। इस

वेदिका के जो अनेक स्तम्भ प्राप्त हुए हैं, उन पर कमल के अनेक फूलों की अत्यन्त सुन्दर सजावट है। इस आधार पर वह वेदिका 'पद्मवर-वेदिका' का नमूना जान पड़ती है, जिसका उल्लेख 'रायपसेनीय-सुत्' में आया है। सम्भव है कि धनिक उपासक सचमुच के खिले कमलों द्वारा इस प्रकार की पुष्पमयी वेदिका निर्मित कराकर विशेष अवसरों पर स्तूप की पूजा करते रहे हों। कालान्तर में उन कमल पुष्पों की आकृति काष्ठमय वेदिका-स्तम्भों पर उत्कीर्ण की जाने लगी, और सबसे अन्त में पत्थर के स्तम्भों पर कमल-पुष्पों की वैसे ही अलंकरण और सजावट युक्त बेल उकेरी जाने लगी। ऐसी ही 'पद्मवर-वेदिका' का एक सुन्दर उदाहरण 'मथुरा' के देव निर्मित जैन-स्तूप की खुदाई में प्राप्त शुंग-कालीन स्तम्भों पर सुरक्षित रह गया है।

वेदिका-स्तम्भों आदि पर स्त्री-पुरुषों, पशु-पक्षियों, लता-वृक्षों, आदि का चित्रण किया जाता था। कंकाली-टीले से प्राप्त जैन-वेदिका स्तम्भों पर ऐसी बहुत सी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनमें तत्कालीन आनन्दमय लोक-जीवन की सुन्दर झाँकियाँ मिलती हैं। इन मूर्तियों में विविध आकर्षक-मुद्राओं में खड़ी स्त्रियों के चित्रण अधिक हैं। किसी स्तम्भ पर कोई वनिता उद्यान में पुष्प चुनती दिखलाई देती है, तो किसी में कंदुक-क्रीड़ा का दृश्य है। कोई सुन्दरी झरने के नीचे स्नान का आनन्द ले रही है, तो कोई दूसरी स्नान करने के उपरान्त वस्त्र परिधान कर रही है। किसी पर युवती गीले केशों को सुखाती है तो किसी पर वालों के सँवारने में लगी है। किसी के कपोलों पर लोम-चूर्ण मलने का, तो किसी पर पैरों में आलता भरने का तो अन्य किसी पर पुष्पित-वृक्ष की छाया में बैठकर वीणा-वादन की तल्लीनता अंकित है। अनेक पर नारियों का अंकन नृत्य-मुद्रा में है। इस अंकन में प्रकृति और मानव-जगत की सौन्दर्य-राशि के साथ ही नारी-जीवन भी प्राणवान दीखता है।

'शिलालेख'—'मथुरा' से प्राप्त अनेक 'शिलालेख' जैन-धर्म के प्राचीन इतिहास पर मूल्यवान प्रकाश डालते हैं। जैन संघ के जिस विपुल संघटन का उल्लेख कल्पसूत्र में (ग्रन्थ में) हुआ है, उससे सम्बन्धित गण, कुल और शाखाओं का वास्तविक रूप जब हम प्राचीन-मथुरा के प्राचीन शिलालेखों में पाते हैं, तो यह सिद्ध हो जाता है कि 'कल्पसूत्र' की स्थविरावली में उल्लिखित इतिहास प्रामाणिक है। जैन-संघ के आठ गणों में से चार का नामोल्लेखन मथुरा के लेखों में हुआ है। अर्थात् कोट्टियगण, त्रारणगण, उद्देहिकगण, और वेशकाटिका गण। इन गणों से संबंधित जो कुल और शाखाओं का विस्तार था, उनमें से भी लगभग बीस नाम मथुरा के लेखों में विद्यमान हैं। इससे प्रमाणित होता है कि जैन-भिक्षु सच का बहुत ही जीता जागता केन्द्र 'मथुरा' में विद्यमान था, और उसके अन्तर्गत अनेक श्रावक-श्राविकाएँ धर्म का यथावत पालन करती थीं।

'देवपाल' श्रेष्ठ की कन्या 'श्रेष्ठसेन' की पत्नी 'क्षुद्रा' ने भगवान् वर्धमान की प्रतिमा का दान किया था। श्रेष्ठ वेणी की पत्नी पट्टिसेन की माता कुमार मित्रा ने आर्य वसुला का उपदेश सुनकर एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की स्थापना करायी थी। वज्री शाखा के वाचक आर्य मानुदत्त जो आर्य वलदत्त के शिष्य थे, इनके गुरु थे। मणिकार जयभट्ट की दुहिता लोह वीणाज फल्गुदेव की पत्नी मित्रा ने कोट्टि-गण के अन्तर्गत बृहद दासिक कुल के बृहन्त वाचक गणि जैमित्र के शिष्य आर्य ओदा के शिष्य गणि आर्य-

आचार्यप्रवचन अभिरुचि आचार्यप्रवचन अभिरुचि
श्रीआनन्दरौ अथर्व श्रीआनन्दरौ अथर्व



पाल के श्रद्धास्पद, वाचक आर्यदत्त के शिष्य वाचक आर्यसिंह की प्रेरणा से एक विशाल जिन प्रतिमा का दान किया था। आचार्य बलदत्त की शिष्या आर्या कुमारमित्रा तपस्विनी को शिलालेखों में संशित, मस्वित, बोधित, कहा गया है। यह भिक्षुणी हो गयी थी। किन्तु उसके पूर्वाश्रम के पुत्र गंधिक कुमार भद्रिय ने एक जिन प्रतिमा का दान किया था। यह मूर्ति कंकाली टीले के पश्चिमी भाग में स्थित दूसरे देव प्रासाद में भग्नावेश के रूप में प्राप्त हुई हैं। पहले देव प्रासाद की स्थिति इस मन्दिर के कुछ पूर्व के ओर थी। ग्रामिक जयनाग की कुटुम्बिनी और ग्रामिक जयदेव की पुत्रबधु ने संवत् ४० में शिला स्तम्भ का दान किया था। श्रमण-श्राविका 'वालहस्ति' ने अपने माता-पिता और सास ससुर की पुण्यवृद्धि के लिए एक बड़े तोरण की स्थापना की थी। कंकाली टीलों की खुदाई में ही मिली एक तीर्थकर मूर्ति की भग्न-चौकी भी है, जिस पर ई० दूसरी शताब्दी का एक ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। इस लेख में लिखा है कि शक संवत् ७९ (१५० ई०) में भगवान श्री मुनिमुव्रत नाथ की इस प्रतिमा को देवताओं के द्वारा निर्मित वोदू-स्तूप में प्रतिष्ठित कराया गया।

“स्तूप”—पूर्व-कालीन विद्वानों की धारणा थी कि भारतवर्ष में सब से पहले बौद्ध-स्तूपों का निर्माण हुआ था, किन्तु प्रस्तुत तथ्यों के द्वारा यह धारणा भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है और अब विद्वान लोग मानने लगे हैं कि बौद्ध-स्तूपों के निर्माण से पूर्व ही जैन-स्तूपों का निर्माण होता रहा। इसकी पुष्टि साहित्यिक प्रमाणों से भी होती है, जिन्हें बुल्हर और स्मिथ आदि ने (पाश्चात्य विद्वानों ने) भी स्वीकार किया है। सबसे प्रथम बुल्हर ने 'जिनप्रभ चरित तीर्थ कल्प' नाम के ग्रन्थ की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया, जिसमें प्राचीन प्रमाणों के आधार पर 'मथुरा' के देव निर्मित स्तूप की नींव पड़ने तथा उसके जीर्णोद्धार का वर्णन है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह स्तूप पहले स्वर्ण का था और उस पर मूल्यवान जवाहिरात जड़े हुए थे। सातवें तीर्थकर श्री सुपाश्वनाथ की प्रतिष्ठा के लिए इस स्तूप का निर्माण 'कुबेरादेवी' ने कराया था। बाद में तेइसवें तीर्थकर श्री पाश्वनाथ के काल में इसका जीर्णोद्धार ईंटों से हुआ, पश्चात् चौबीसवें तीर्थकर श्री 'महावीर' के ज्ञान प्राप्ति के तेरह सौ वर्षों पश्चात् वप्पभट्ट सूरि ने इसका जीर्णोद्धार कराया। सूरि जी का समय ईसा की आठवीं शताब्दी है।

उपरोक्त तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि 'मथुरा' के साथ जैन-धर्म का सम्बन्ध सप्तम तीर्थकर सुपाश्वनाथ के काल से ही बराबर बना रहा है और वह जैनों का श्रद्धा स्थल बराबर रहा है। मथुरा से ही प्राप्त दो जैन-स्तूपों में पहला शुंग-काल का है और दूसरा कुषाण-काल का है। सौभाग्यवश कंकाली टीला नामक स्थान से इन दोनों स्तूपों के विषय पर सहस्राधिक शिलावशेष प्राप्त हुए हैं। इन स्तूपों को देव निर्मित माना गया है। अर्थात् यह अति प्राचीन काल का है, और इसका निर्माण देवों द्वारा हुआ है।

देव-निर्मित विशेषण सभिप्राय है। जैसा रायपसेनियसूक्त में देवों द्वारा एक विशाल स्तूप के निर्माण का वर्णन है। कुछ इसी प्रकार की कल्पना मथुरा के कंकाली टीले के इन स्तूपों के लिए की जाती है। तिब्बती-विद्वान बौद्ध इतिहासकार 'तारानाथ' ने अशोक-कालीन शिल्प निर्माताओं को यक्ष लिखा है। और मौर्य-कालीन शिल्प-कला को 'यक्षकला' की संज्ञा दी है जिससे यह धारणा बनी की उस युग के पूर्व की कला देवनिर्मित मानी जाती थी।

उपरोक्त ध्वनि यह स्पष्ट करती है कि—'मथुरा' का देव निर्मित जैन-स्तूप मौर्यकाल से पूर्व

अर्थात् लगभग ५वीं या ६वीं शताब्दी ईसा पूर्व का होगा। बुद्ध, स्मिथ आदि प्राच्यविदों ने लिखा है कि उस समय स्तूप के वास्तविक निर्माणकर्ताओं के विषय में लोगों को विस्तृत ज्ञान रहा होगा। और वह जैन-स्तूप इतना प्राचीन माना जाने लगा कि उसके लिए देव-निर्मित कल्पना भी सम्भव हो सकी। यह तथ्य यह प्रमाणित करता है कि बौद्ध स्तूपों के निर्माण पूर्व से ही जैन-स्तूपों का निर्माण बराबर होता रहा है।

जैन-स्तूपों के मध्य में बुद्बुदाकार बड़ा और ऊँचा थूहा होता था, और उसके चारों ओर वेदिका और चारों दिशाओं में चार तोरणद्वार होते थे। उनके ऊपर हार्मिका और छत्रावली का विधान होता था। यह वेदिका सहित त्रिमैथियों पर बनाया जाता था। उसके चारों पाश्र्वों और वेदिका-स्तम्भों पर शालमंजिका मूर्तियों की रचना की जाती थी। इनके बहुत से नमूने कंकाली टीले से प्राप्त हुए हैं, जो लखनऊ संग्रहालय में स्थित हैं।

जैनधर्म के विविध केन्द्र—‘मथुरा’ से प्राप्त लेखों से यह सिद्ध होता है कि पुरुषों की अपेक्षा दानदाताओं में नारियों की बहुलता रही है। मथुरा के अतिरिक्त उत्तर-भारत में जैन-धर्म के अन्य अनेक केन्द्र भी थे, जिनमें उत्तर गुप्त-काल तथा मध्य काल में जैन-कला का विस्तार होता रहा। वर्तमान बिहार व उत्तर-प्रदेश में अनेक स्थान तीर्थकरों के जन्म, तपस्या, तथा निर्वाण के तीर्थ रहे हैं। अतः यह स्वाभाविक था कि इन स्थलों पर धर्म, कला तथा शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की जाय, कौशाम्बी प्रभास, श्रावस्ती, कम्पला, अहिक्षेत्र, हस्तिनागपुर, देवगढ़, राजगृह, वैशाली, मन्दारगिरि, पावापुरी ऐसे क्षेत्र थे।

उपरोक्त स्थलों से जैन-कला की जो प्रभूत सामग्री प्राप्त हुई है, उससे पता चलता है कि जैन-धर्म ने अपनी विशेषताओं के कारण भारतीय लोक जीवन को कितना अधिक प्रभावित किया था। जैन धर्म की अजस्रधारा केवल उत्तर भारत तक ही सीमित नहीं रही, अपितु वह भारत के अन्य भागों को पूर्णरूपेण अपनाये हुए थी। मध्य-भारत में ग्वालियर, चन्देरी, सोनागिर, खजुराहो, अजयगढ़, कुण्डलपुर, जरखो, अहार, और रामटेक एवं राजस्थान तथा मालवा में चन्द्राखेड़ी, आवूपर्वत, सिद्धवरकट तथा उज्जैन, प्रसिद्ध केन्द्र रहे हैं। इसी प्रकार गुजरात, सौराष्ट्र तथा बम्बई प्रदेश में गिरनार, वलमी, शत्रुंजय, अणहिल्ल (ल) दिलवाड़ा, एलोरा और वादामी, तथा दक्षिण में वेलूर, श्रमणवेलगोला, तथा हेलचीड, इत्यादि स्थलों में जैन मूर्ति-कला और चित्रकला दीर्घकाल तक अपना प्रभाव और अस्तित्व बनाये रही।

भारत के अनेक राजवंशों ने भी जैन-कला के उन्नत होने में योग दिया है। गुप्त-शासकों के पश्चात् चालुक्यराष्ट्र, कलचूरि, गंग, कदम्ब, चोल, तथा पाण्ड्य आदि वंशों के अनेक राजाओं का जैन-कला को संरक्षण और प्रोत्साहन पर्याप्त रूप में रहा है। इन वंशों में अनेक राजा जैन-धर्म के अनुयायी भी थे। सिद्धराज, जयसिंह, कुमारपाल, अमोघवर्ष, अकालवर्ष तथा गंग-वंशीय मानसिंह (द्वितीय) का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

कला के अवशेष—मध्य काल के पश्चात् मुस्लिम-काल में भारतीय-कला-क्षेत्र का जो ह्रास हुआ, उससे जैन-कला भी नहीं बच सकी। उत्तर भारत के उपर्युक्त सभी कला केन्द्र नष्ट हो गये, और कला का प्रवाह जो अतिप्राचीन काल से अजस्र रूप में चला आ रहा था, अवरुद्ध हो गया। यद्यपि पश्चिम तथा दक्षिण भारत में इस झंझावात् के पूरे चपेट में न आ सकने के कारण वहाँ स्थापत्य और मूर्तिकला

आचार्य प्रवचन अमिन् देव आचार्य प्रवचन अमिन् देव
श्री आनन्द स्वामी अन्ध देव श्री आनन्द स्वामी अन्ध देव



जीवित बच गई किन्तु उसमें भी वह सजीवता और स्वाभाविकता नहीं रही, जिसके दर्शन हमें प्रारम्भिक युगों में होते रहे हैं। पाषाण और धातु की अनेक जैन-मूर्तियाँ तेरहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक की हैं, जिनमें अनेक पर अभिलेख भी हैं, इनमें प्रायः विक्रम संवत् के साथ दातारों के नाम, गोत्र, कुल आदि का परिचय भी है।

उत्तर-भारत में तो बहुत ही कम ऐसे प्राचीन स्थान होंगे, जहाँ जैन-कला के अवशेष न हों। विजनौर जिले का पारसनाथ किला ही कई मीलों तक विस्तृत अरण्य-प्रदेश बना पड़ा है। इसमें ही कितनी जैन-कलाकृतियाँ विखरी पड़ी हैं। बुंदेलखण्ड और राजस्थान के इलाकों में ही चारों ओर मूर्तियाँ इधर उधर लावारिस रूप में विखरी पड़ी हैं। इन अमूल्य निधियों को जैन-ध्वंसावेशों को एकत्र करना, इनकी सुरक्षा करना परम आवश्यक है। अभी भी बहुत सामग्री धरती के गर्भ में है।

वर्तमान मथुरा और जैन-धर्म:—वर्तमान 'मथुरा' नगर का सर्व प्रधान-तीर्थ चौरासी है। चौरासी अन्तिम केवली भगवान श्री जम्बूस्वामी की निर्वाण-भूमि है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर के पश्चात् केवली तीन केवली हुए, प्रथम गौतम गणधर (इन्द्रभूति) का कैवल्य-काल १२ वर्ष रहा। दूसरे केवली भगवान सुधर्मा स्वामी थे, इनका भी कैवल्य-काल १२ वर्ष ही रहा। तीसरे केवली भगवान 'जम्बूस्वामी' का कैवल्य-काल ३८ वर्ष रहा। इस प्रकार भगवान महावीर के पश्चात् ६२ वर्षों में तीन केवली भगवान हुए। केवली भगवान श्री जम्बूस्वामी का निर्वाण आज से २४३७ वर्ष पूर्व इसी चौरासी क्षेत्र में हुआ है।

ऐसा प्रख्यात है कि उस काल में इस क्षेत्र पर ७२ वन और १२ उपवन थे। कुल मिलाकर ८४ होने के कारण ही इसे चौरासी कहा जाता था। यह भी प्रसिद्ध है कि केवली भगवान श्री जम्बूस्वामी का ८४ वर्ष की आयु में निर्वाण हुआ, इसीलिए यह क्षेत्र चौरासी कहलाया। कुछ ठोस प्रमाण के आधार पर ८४ नाम की प्रामाणिकता उपलब्ध नहीं है।

काल के थपेड़ों ने इस स्थल को 'श्री हीन बना दिया था। दोसौ वर्षों पूर्व यहाँ केवल एक टूटी सी छतरी और एक बेर का वृक्ष ही इस क्षेत्र की सम्पदा रह गये थे। नगरसेठ श्री लक्ष्मीचन्द्रजी के मुनीम 'श्री मनीराम' जी ने यहाँ एक विशाल-मन्दिर निर्माण कराया है।

'वृन्दावन' के मार्ग में 'धीरेरहा' स्थल से तेइसवें ती० श्री 'पाश्वनाथ' की दो हजार वर्ष प्राचीन प्रतिमा वि० सं० १८९ की प० हुकुमचन्द्र जी को प्राप्त हुई थी, जो यहाँ विराजमान है। दूसरी प्रतिमा द्वितीय जैन ती० श्री 'अजितनाथ' की है। यह ग्वालियर की खुदाई में प्राप्त हुई है। इतनी बड़ी खड़गासन प्रतिमा सम्भवतः भारतवर्ष में अन्यत्र नहीं है। दोनों प्रतिमाएँ अतिशय प्रधान होने के कारण ही इस क्षेत्र-भूमि को अतिशय-क्षेत्र कहा जाता है।

'मथुरा' की अतीतातीत-काल से जन-धर्म और कला को जो देन रही है, उससे यह ज्ञात होता है कि—उस क्षेत्र में अभी भी उत्खनन और संग्रह की शोध में अनेक वस्तुएँ ऐसी प्राप्त होंगी जो जैन-धर्म के अस्तित्व को और भी प्राचीनकाल तक पहुँचायेंगी। इस वर्ष भगवान श्री महावीर के पच्चीससौवें निर्वाण-महोत्सव के कार्यक्रम के अन्तर्गत जैनों का एक बड़ा शोध संस्थान (पूर्ण भारत वर्ष की एक संस्था) स्थापित कर वहाँ पुरातत्त्वविदों का सहयोग प्राप्त कर जिधर-जिधर हमारे बिखरे अवशेष हैं, उन्हें एकत्र किया जाना आवश्यक है।

